(दो साल बाद होने वाले 2024 के लोकसभा चुनावों के मद्देनज़र विपक्षी एकता की चर्चा और प्रयास एक बार फिर किए जा रहे हैं. मैं इस गंभीर मुद्दे पर अभी कुछ नहीं कह/लिख रहा हूं. अलबत्ता अक्तूबर 2018 का यह लेख साझा करना चाहता हूं, जो हिंदी मासिक युवा संवाद और हस्तक्षेप डॉट कॉम सहित कई जगह प्रकाशित हुआ था. इस आशा के साथ कि शायद इस प्रक्रिया में लगे लोग ठहर कर थोड़ा विचार करें.)

विपक्षी गठबंधन की गांठें और मुसलमान

प्रेम सिंह

मोदी-शाह की जोड़ी की एक के बाद एक चुनावी जीत ने केंद्र और विभिन्न राज्यों में सत्ता के प्रमुख खिलाड़ियों के सामने अस्तित्व का संकट खड़ा कर दिया था. घबराये विपक्षी दलों में भाजपा-विरोधी चुनावी गठबंधन बनाने की कोशिशें होने लगीं. लोकतंत्र पर फासीवादी संकट के मद्देनज़र सिविल सोसाइटी एक्टिविस्टों और बुद्धिजीवियों ने भी मुद्दों, नीतियों और पार्टियों/नेताओं के चरित्र को दरकिनार करके विपक्ष के चुनावी गठबंधन की जबरदस्त वकालत करना शुरू कर दी. सभी ने एक स्वर से गैर-भाजपावाद का नारा बुलंद कर दिया. उत्तर प्रदेश की तीन लोकसभा सीटों पर हुए मध्यावधि चुनावों में समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी, लोकदल और कांग्रेस के साझा उम्मीदवारों के जीतने और कर्नाटक विधानसभा चुनाव के बाद कांग्रेस के समर्थन से जनता दल (सेकुलर) की सरकार बनने से यह लगा कि विपक्ष का चुनावी गठबंधन आगे भी चलेगा. यानी उत्तर प्रदेश और कर्नाटक के चुनावों के पांच महीने बाद होने वाले पांच राज्यों - राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, तेलंगाना, मिजोरम - के विधानसभा और अगले साल होने वाले लोकसभा चुनाव भाजपानीत राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक गठबंधन (एनडीए) से इतर दल मज़बूत चुनावी गठबंधन बना कर लड़ेंगे.

ऐसे माहौल में पांच राज्यों के विधानसभा चुनावों में कांग्रेस और अन्य विपक्षी दलों के बीच गठबंधन की उम्मीद की जा रही थी. क्योंकि इन विधानसभा चुनावों को करीब 6 महीने बाद होने लोकसभा चुनाव का सेमीफाइनल बताया जा रहा था. लेकिन चुनावों की तारीख घोषित होने पर गठबंधन को लेकर जो स्थिति सामने आई है, उससे साफ़ लगता है कि लोकसभा चुनाव 2019 में भाजपानीत एनडीए के बरक्स विपक्षी दलों के गठबंधन के प्रयासों में गंभीरता नहीं आ पाई है. साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया है कि सत्ता से जुड़े नेताओं, चाहे वे किसी भी राजनैतिक पार्टी के हों, को उस फासीवादी संकट की परवाह नहीं है, जिसकी दुहाई पिछले चार साल से लगातार दी जा रही है. देश के खजाने और लूट के धन की बदौलत असीमित सुविधाओं का भोग करते हुए सर्वोच्च सुरक्षा-घेरे में रहने वाले नेताओं को केवल अपनी सत्ता पर आया संकट ही असली संकट लगता है. देश, समाज, संविधान, साझा विरासत आदि पर संकट की उन्हें वास्तविक चिंता नहीं है.

हमें नहीं पता कि मायावती पर केंद्र सरकार ने सीबीआई का दबाव बनाया है या नहीं. लेकिन दिग्विजय सिंह पर भाजपा एजेंट होने का आरोप मायावती की पुरानी आदत को ही दर्शाता है. वे अक्सर इस या उस नेता को भाजपा का एजेंट बताती रहती हैं. कांग्रेस भ्रष्ट है, यह सही है, लेकिन सत्ता के गलियारों में कौन-सी पार्टी भ्रष्ट नहीं है? कांग्रेस का सोशल मीडिया सेल राहुल गांधी को अगले प्रधानमंत्री के दावेदार के रूप में जोर-शोर से प्रचारित कर रहा है. जनेऊ धारण कराने के बाद उन्हें मंदिरों, घाटों, तीर्थस्थलों, राम वनगमन पथ आदि पर घुमाया जा रहा है. बुद्धिजीवियों से मिलवाया जा रहा है. सोनिया के पुराने सेकुलर सिपाही सोशल मीडिया पर राहुल गांधी और कांग्रेस के गुण-गान में उतर आये हैं. इससे मायावती को लगा होगा कि कांग्रेस प्रधानमंत्री के पद के लिए उनकी दावेदारी स्वीकार नहीं करती है. नीतीश कुमार चाहते थे कि कांग्रेस उन्हें प्रधानमंत्री का उम्मीदवार स्वीकार करे. जब उन्होंने अच्छी तरह से जान लिया कि कांग्रेस वैसा नहीं करने जा रही है, तो वे वापस एनडीए में चले गए. मायावती ने नीतीश कुमार के पलायन को अपने लिए बढ़िया मौका माना होगा.

मायावती चाहेंगी कि उनके साथ गठबंधन न करने की सजा में कांग्रेस राजस्थान, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में चुनाव हार जाए. ऐसा होने पर लोकसभा चुनाव में वे कांग्रेस पर प्रधानमंत्री पद के लिए दबाव बना पाएंगी. शायद इसीलिए अभी उन्होंने सोनिया गांधी और राहुल गांधी के प्रति नरम रुख दिखाया है. कांग्रेस से कड़ी बारगेनिंग करके वे अपने मतदाताओं को यह संदेश देना चाहती हैं कि उत्तर प्रदेश में लोकसभा और विधानसभा चुनावों में बसपा की करारी हार ईवीएम में की गई गड़बड़ी के कारण थी. भले ही कुछ जानकार पत्रकार कहते हों कि मायावती जिस वोट बैंक के मुगालाते में कड़ा रुख अपना रही हैं, वह कभी का भाजपा की तरफ खिसक चुका है.

बहरहाल, बात अकेले मायावती और कांग्रेस की नहीं है. लोकसभा चुनाव में 6 महीने रह गए हैं. लेकिन गैर-एनडीए दलों के नेताओं में गठबंधन को लेकर ज़िम्मेदारी और गंभीरता का अभाव बना हुआ है. किसी मुकम्मल गठबंधन की बात छोड़िये, फुटकर गठबंधन की तस्वीर भी लोगों के सामने अभी तक साफ़ नहीं है. ऐसे में दो तरह की प्रतिक्रियाएं देखने में आ रही हैं. एक, जैसा कि व्यक्तिगत बातचीत में साथी रविकिरण जैन ने कहा, 'भाड़ में जाए यह देश, इसका कुछ नहीं हो सकता! इस तरह के आपसी अविश्वास के साथ ये लोग चुनाव में जीत भी जाते हैं, तो वह सरकार ज्यादा दिन नहीं चलेगी. भाजपा फिर पूरी ताकत से वापस आएगी.' दो, जैसा कि कुछ संजीदा नागरिकों ने सोशल मीडिया पर आक्रोश व्यक्त किया है, 'लड़ने दो नाकारा विपक्ष को आपस में, जिसे अपनी सत्ता के अलावा देश-समाज की ज़रा भी चिंता नहीं है. इनका विनाश होने पर ही नई राजनीति की संभावनाएं बनेंगी!'

मैंने जून महीने में 'लोकसभा चुनाव 2019 : विपक्षी एकता के लिए एक नज़रिया' शीर्षक से एक विस्तृत लेख लिखा था, जो हस्तक्षेप डॉट कॉम सहित सोशल मीडिया की कई साइटों पर छपा था. यह लेख अंग्रेजी में 'मेनस्ट्रीम वीकली', 'जनता वीकली' पत्रिकाओं और काउंटर करेंट डॉट कॉम पर भी प्रकाशित हुआ था. मैंने बहुत से साथियों को मेल से भी हिंदी और अंग्रेजी लेख भेजा था. एसपी शुक्ला, पुष्करराज, प्रो. अनिल सदगोपाल और रविकिरण जैन के अलावा किसी साथी ने लेख पर अपनी टिप्पणी

नहीं भेजी. हालांकि लेख में विपक्षी गठबंधन के मुद्दे पर गंभीरता से विचार करने के लिए सभी विचारशील साथियों से आग्रह किया गया है. मैंने लेख में कहा है कि कैसी भी निराशा की स्थिति हो, हकीकत यही है कि एनडीए से इतर जो मुख्यधारा राजनीतिक दल हैं, उन्हीं का चुनावी गठबंधन बन सकता है.

यह सही है कि विपक्षी नेताओं को संजीदा लोगों के हिसाब से जिम्मेदार और गंभीर नहीं बनाया जा सकता. लेकिन यह भी सही है कि उनकी जगह पर नई राजनीति रातों-रात खड़ी नहीं की जा सकती. मौजूदा राजनीतिक दल और उनके ऊपर सम्पूर्ण निगम-प्रतिष्ठान यह आसानी से नहीं होने देंगे. डेविड सी कार्टन का हवाला लें तो यह वह समय है जब दुनिया पर निगम (कार्पोरेशंस) राज कर रहे हैं. संविधान-विरोधी नई आर्थिक नीतियां थोपी जाने के साथ पूरे देश में जो स्वाभाविक तौर पर प्रतिरोध आंदोलन खड़े हुए थे, उन्हें अंतत: 'इंडिया अगेंस्ट करप्शन' (आईएसी) द्वारा आयोजित भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन ने नष्ट कर दिया. बताने की जरूरत नहीं कि उस आंदोलन में प्राय: समस्त सेकुलर और प्रगतिशील बुद्धिजीवी शामिल थे. उसी आंदोलन की पीठ पर सवार होकर नरेंद्र मोदी पूर्ण बहुमत के साथ देश के प्रधानमंत्री बने. उनके नेतृत्व में नवउदारवाद उग्र साम्प्रदायिकता के साथ गठजोड़ बना कर नए मज़बूत चरण में पहुंच गया. उस आंदोलन में अपनी उत्साहपूर्ण भूमिका के लिए आज तक एक भी बुद्धिजीवी ने खेद प्रकट नहीं किया है. उल्टा कार्पोरेट की सीधे कोख से निकली आम आदमी पार्टी (आप) के वे शुरू से आज तक अंध-समर्थक बने हुए हैं. आज देश में जो राजनीति फल-फूल रही है, उसमें बुद्धिजीवियों की बड़ी भूमिका है. इस सच्चाई से टकराए बगैर देश में संविधान-सम्मत राजनीति और नीतियां बहाल नहीं हो सकतीं. कारपोरेट-साम्प्रदायिक गठजोड़ के बरक्स नई अथवा वैकल्पिक राजनीति की तो बात ही छोड़ दीजिए. सचमुच संजीदा लोगों को यह समझना होगा कि निराशा में पल्ला झाड़ने से कुछ भी सार्थक हासिल नहीं हो सकता.

लोकसभा चुनाव के पहले एनडीए के खिलाफ गठबंधन बनेगा या नहीं; बनेगा तो उसका क्या स्वरूप होगा, इसके बारे में पता अब पांच राज्यों के विधानसभा चुनावों के नतीजों के बाद ही चल पाएगा. गठबंधन में शामिल होने वाले दल इन विधानसभा चुनावों में एक-दूसरे के आमने-सामने होंगे. आरोप-प्रत्यारोप भी होंगे. परस्पर अविश्वास और कटुता बढ़ भी सकती है. भाजपा इस सबका ज्यादा से ज्यादा फायदा उठाने की कोशिश करेगी और उस लकीर को लोकसभा चुनाव तक खींचेगी. तब गठबंधन की गांठें सुलझेंगी या और ज्यादा उलझती जाएंगी यह देखने की बात है.

अलबत्ता आगामी चुनावी घमासान में एक बात पूरी तरह से स्पष्ट है - मुसलामानों की एक बार फिर बुरी गत बननी है. उन पर गैर-एनडीए दल/नेता ही नहीं, एनडीए में शामिल 'सेकुलर' दल/नेता भी चील की तरह झपटेंगे. मुसलमान, हमेशा की तरह, अंत तक 'महान भारतीय लोकतंत्र' का तमाशा देखेंगे और चुनाव के दिन अंतिम क्षण में जो भाजपा को हराता दिखेगा उसे वोट कर करेंगे! इस तरह वे कांग्रेस, सपा, बसपा, तृणमूल कांग्रेस, तरह-तरह के जनतादलों, डीएमके, एडीएमके, आप (जिसने हाल में दिल्ली को राज्य का दर्ज़ा देने के बदले में लोकसभा चुनाव में भाजपा का प्रचार करने का वादा किया है),

और आधिकारिक कम्युनिस्ट पार्टियों (जो आप सुप्रीमो केजरीवाल का सदैव बिना शर्त समर्थन करती हैं) को एकमुश्त वोट करेंगे. देश के सेकुलर दलों/नेताओं/बुद्धिजीवियों ने उन्हें यही आदत डाली है. इसके बावजूद कि सांप्रदायिक आरएसएस/भाजपा और सेकुलर दलों की सम्मिलित साम्प्रदायिक राजनीति ने बहुसंख्यक हिंदू आबादी के मानस में मुस्लिम-घृणा का शायद कभी न नष्ट होने वाला बीज बो दिया है, अपनी अस्मिता और जान की खैर मनाते हुए वे अकेले धर्मनिरपेक्षता के धर्म का पालन करेंगे!

साम्प्रदायिक राजनीति का जवाब स्वतंत्रता आंदोलन की विरासत और संविधान की धुरी पर स्थित राजनीतिक पार्टी ही हो सकती है. संवैधानिक रूप से अवैध निगम राजनीति (कारपोरेट पॉलिटिक्स) के वाहक नेता ऐसी किसी राजनैतिक पार्टी को पैर नहीं जमाने देंगे. बुद्धिजीवियों की स्थिति ऊपर बता दी गई है. विडम्बना यह है कि अपने ठहरे हुए राजनीतिक मानस के चलते मुसलमान भी कभी ऐसी राजनैतिक पार्टी का समर्थन नहीं करेंगे. मैंने 2014 के लोकसभा चुनाव के पहले मुसलामानों के सामने एक सुझाव रखा था : "हमारा मानना है कि यह दुश्चक्र तभी तोड़ा जा सकता है जब देश के मुसलमान नागरिक कम से कम एक बार आम चुनाव और एक बार सभी विधानसभा चुनावों में वोट नहीं डालने का कड़ा फैसला लें. भारत की राजनीति में उससे बड़ा बदलाव हो सकता है. मुसलामानों के इस 'सत्याग्रह' से धर्मनिरपेक्षता के दावेदार और साम्प्रदायिकता के झंडाबरदार - दोनों संविधान की ओर लौटने के लिए मज़बूर होंगे. और तब देश का संविधान सांप्रदायिकता पर भारी पड़ेगा." (प्रेम सिंह, *संविधान पर भारी सांप्रदायिकता*, पृष्ठ 27, युवा संवाद प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013)

मैं फिर दोहराना चाहता हूं कि मुसलमान गठबंधन की गांठों की जकड़ से अपने को बाहर रखते हुए लोकसभा 2019 के चुनाव की सविनय अवज्ञा कर दें. पूरे मुस्लिम समाज के स्तर पर यह बड़ा काम आसान नहीं होगा. लेकिन सामाजिक, धार्मिक एवं नागरिक संगठन समझदारी और एका बना कर यह फैसला कर सकते हैं. इस 'शाक ट्रीटमेंट' से भारत की राजनीति में तो बड़ा बदलाव आ ही सकता है, मुस्लिम समुदाय में राजनीतिक मानस के ठहराव को तोड़ने और नागरिक-चेतना को मज़बूत करने में यह कदम क्रांतिकारी साबित हो सकता है.

(*समाजवादी आंदोलन से जुड़े लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व शिक्षक और भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान के पूर्व फेलो हैं.*)